Impact Factor – 7.367

ISSN-2349-638x

Aayushi International Interdisciplinary Research Journal (AIIRJ)

PEER REVIEWED & INDEXED JOURNAL

Special Issue No.120

National Education Policy 2020: Promotion of Indigenous Languages, Art and Culture

Chief Editor

Dr.Pramod P. Tandale

Executive Editor

Prof. Prashant Mannikar

IMPACT FACTOR

SJIF 7.367

For details Visit our website

www.aiirjournal.com

Sr. No.	Name of the Author	Title of Paper	Page No.
50.	डॉ.वनीता काशिनाथअप्पा अग्रे	भारतीय संस्कृति के प्रणेता - मैथिलीशरण गुप्त	182
51.	आडे कल्पना हरीलाल	नई शिक्षा नीति में भारतीय भाषाओं का स्थान	184
52.	ड़ॉ. गोपाल यतिराज बाहेती	भारतीय भाषा विकास एवं हिंदी भाषा का संवर्धन	186
53.	प्रा. अनिता विश्वनाथ चौधरी	भारतीय संस्कृति: महिमा एवं सद्यस्थिती	189
54.	डॉ. संग्राम सोपानराव गायकवाड	नई शिक्षा नीति 2020 के अनुसार 'त्रि-भाषा' सूत्र का महत्व	193
55.	डॉ. सौ. उषा अरुण गायकवाड	भाषा संस्कृती और समाज	196
56.	प्रा.इंदलकर सुभाष शंकरराव	एक शक्ति के रूप में हिन्दी भाषा	198
57.	सोनाली जमादार	स्वदेशी भाषा, कला और संस्कृति के प्रचार में भाषा शिक्षकों की भूमिका	199
58.	प्रा. डॉ. राम दगडू खलंग्रे	भारतीय भाषाओं का संवर्धन, संरक्षण एवं विकास	202
59.	सुनीता मडके	स्वदेशी कला और संस्कृति के संवर्धन व संरक्षण में भाषा की भूमिका	206
60.	मंगरुळे इसाबेग घुडूसाहेब	संस्कृति के प्रचार मे हिंदी भाषा का महत्व	209
61.	डॉ. मणियार अखिल बाबुसाब	नई शिक्षा नीति 2020 के अनुसार ई- स्वयं (SWAYAM) शिक्षा का महत्व	212
62.	मन्नाडे रमा धनराज	नई शिक्षा नीति एवं भाषां संवर्धन	216
63.	प्रा. डॉ.पवार आर. एस.	विश्वभाषा के रूप में हिंदी के बढ़ते कदम	219
64.	राजेश कुमार	स्वदेशी कला और संस्कृति के प्रचार में हिन्दी भाषा का महत्व	221

भारतीय संस्कृति: महिमा एवं सद्यस्थिती

प्रा. अनिता विश्वनाथ चौधरी,
जी. के. जोशी (रात्रीचे) वाणिज्य महाविद्यालय,
लातूर

प्रस्तावना :

हमारा भारत देश 'विविधता में एकता' वाला देश है। यहाँ पर विभिन्न धर्मो व सम्प्रदायों के लोग रहते हैं। सभी की अपनी–अपनी भाषाएं, रहन–सहन, वेशभूषा, रीति–रिवाज वेद–पुराण एवं साहित्य है। सब की अपनी–अपनी संस्कृति है। सभी लोगों की संस्कृति उनकी पहचान बनाये हुये है। संस्कृति के प्रकाश में ही भारत अपने वैयक्तिक और वैश्विक जीवन मूल्यों की रक्षा कर सकता है। भारत देश की प्राचीन संस्कृति इस बात को पुष्ट करती है कि यहाँ के महान शासकों ने सदा सर्वधर्मसमभाव की नीति अपनाई। यहाँ की लोकतन्त्रीय व्यवस्था में हर धर्म व सम्प्रदाय को समान आदर दिया गया। यहाँ के महान शासकों ने सदैव इसी नीति का अनुसरण किया। यह भारत की एक आदर्श परम्परा थी जिसका पालन राजतन्त्र ने भी किया और लोकतन्त्र ने भी। आज पूरा देश जिस सांस्कृतिक दौर से गुजर रहा है उसके पदचाप में संस्कृति की कोई अनुगूंज नहीं सुनाई देती है। एक तरफ सरकार कहती है कि उसे सांस्कृतिक मूल्यों का भान है और उसके क्षरण को रोकने के लिए कार्यबद्ध है। किन्तु दिन–प्रतिदिन सांस्कृतिक मूल्य एवं आदर्श नष्ट होते जा रहे हैं। देश भर में संस्कृति के नाम पर अनगिनत संस्थाएं बनीं, किन्तु संस्कृति उनसे दूर–दूर ही बनी रही। संस्कृति कोई देवता नहीं जो मंदिरों में ही रहेगी। वह तो एक एहसास है हमारे वजूद का। संस्कृति एक ऐसा विस्तृत फलक है, जिसमें आदमी और भगवान दोनों शरण पाते हैं। अब इतनी व्यापक अनुभूति को किसी चारदीवारी में कैद तो नहीं किया जा सकता। दरअसल जो होना चाहिए था वह न होकर उसके उल्टा हुआ। आज हमारी संस्कृति का सात्विक प्राचीन रूप नष्ट होता जा रहा है। आर्थिक दासता के मंडराते बादलों को छांटने में सफलता प्राप्त नहीं हो रही। देश एवं समाज अपरिपक्व प्रयोगों में फंस कर अनेक अन्य समस्याओं को जन्म दे रहा है। सम्पन्नता के साए में पनपती और पलती विकृतियों से संत्रस्त पश्चिमी जीवन जैसी ही घुटन और तनाव का अनुभव पहले से ही कर रहे भारत में भी वैसे ही लक्षण उभरने लगे हैं।

यद्यपि भारतीय संस्कृति का प्राचीन स्वरूप 'विविधता में एकता' सुरक्षित है तथापि एकता के आधारभूत रंग धूमिल पड़ गए हैं और विविधता के सतही रंग उभर कर हमारे समक्ष आ गए हैं। हम भारतवासी अपनी भाषा, रहन–सहन, खान–पान और वेशभूषा में भले ही अलग–अलग हो परन्तु हमारी संस्कृति एक ही है। अर्थात् भारतीय राष्ट्र राज्य का आधार एक संस्कृति नहीं, अनेक संस्कृतियों की पारस्परिक सहिष्णुता और उनका अन्तर्निभर सहअस्तित्व है। विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं के स्वतन्त्र अस्तित्व और विकास के अधिकार की स्पष्ट स्वीकृति ही भारतीय राष्ट्र राज्या की एकता और अखण्डता की गारण्टी है ।

संस्कृति का अर्थ संकुचित नहीं है। वस्तुत: संस्कृति मन की सुन्दरता को व्यक्त करती है। मन की सुन्दरता से सौन्दर्य की मर्यादाएं बनती हैं। मन की सुन्दरता से हमें सुख–दुख के प्रति दृष्टि निर्धारित करने की क्षमता प्राप्त होती है। संस्कृति हमें सुख और उत्सव में दुख और संकट में गति और नियति की दृष्टि देती है। संस्कृति से हमें सुख और उल्लास में संयम और दुख मे धैर्य की शिक्षा मिलती है। संस्कृति इन अवधारणाओं के अतिरिक्त शील का निर्माण करती है। अतिरेक की सघनता और विषाद की त्रासदी को भोगने की क्षमता प्रदान करती है। शील', 'भारतीय मर्यादा', 'भारतीय उत्सव बोध' और 'भारतीय विषाद' से मोक्ष की भावना एक दिन

में नहीं बनती। सैकड़ों वर्ष लग जाते हैं तब कहीं भोग और त्याग दोनों के आवरण के को संस्कृति व्यक्त कर पाती है। आज जो कुछ भी मूल्य बोध के स्तर पर हमारे पास है वह हजारों वर्ष की जीवन शैली की देन है।

किसी भी जीवन शैली की पहचान भी आध्यात्मिक उत्सर्ग और भौतिक साधिकार ग्रहण करने की क्षमता में दिग्दर्शित होती है। इसलिए संस्कृति केवल भृण मूर्तियां और टेराकोटा की पहचान तक सीमित करके नहीं देखी जा सकती। भारतीय संस्कृति चूंकि एक निरन्तर गतिशील दर्शन है इसलिए उसमें देश, काल, धर्म भी लक्षित होते हैं। संसार की जिन संस्कृतियों में देश काल के अनुसार अपने को अनुकूल बनाने की दृष्टि नहीं होती वह काल के चपेट में आ जाती है।

इसलिए संस्कृति वह सीमा भी निर्धारित करती है जहां से हमें परिवर्तन और अस्वीकार की दृष्टि मिलती है। क्या स्वीकार करें और आधुनिकता के दबाव के सामने कितना झुके यह शक्ति एक गतिशील सांस्कृतिक जीवन शैली का अविभाज्य अंग है। भारतीय संस्कृति की शाश्वतता का यह एक बहुत बड़ा सत्य है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। किसी भी संस्कृति का जन्म दो संस्कारों या दो प्रकार के मूल्यों और मिजाजों का योग है। प्राकृतिक और नैसर्गिक का संबंध यदि उनमें से एक है तो परमार्थिक और जागतिक दूसरा बिन्दु है। इसी प्रकार पार्थविक और सूक्ष्मतम का संयोग एक तीसरा बिन्दु है जिसमें प्राकृतिक और नैसर्गिक के संयोग से जीवन्त तत्वों का सृजन एवं एक जातीय जीवन शैली का प्रादुर्भाव होता है। प्रकृति के साथ–साथ विकार का तत्व लगा है। इस विकार को हम नैसर्गिक मूल्यों के आधार पर शोधित करते रहते हैं। उसी प्रकार जागतिक विकार भी हैं जिसे हम परमार्थिक दृष्टि से शोधित करते

वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए हमारे लिए यह जानना आवश्यक हो गया है कि भारत माता की पहचान किससे है? क्या कहें और क्या करें हम कि दुनिया के लोग जान जाएं कि भारत यह है? क्या कहते आए थे हम अब तक कि भारत किससे है? भारत किस कारण विशिष्ट है। यह किस कारण अमर है? किस कारण अजेय है? किस कारण हजारों वर्षों की आपदाओं और झंझावातों को भारत झेल सका? इसका प्राणतत्व क्या है? यह अपनी प्राणवायु कहां से प्राप्त करता है? इसके सामने मृत्यु क्यों हार जाती है? 'काल' विवश क्यों हो जाता है? प्रत्यक्ष परमात्मा इसका पुत्र बनकर इसकी चरण सेवा और आराधना क्यों करते हैं ? हमारा प्राण क्या है? हमारे शास्त्रों के श्लोक और संत हमें बताते हैं कि हमारी भारत माता और हम भारत के लोगों के पंचप्राण हैं, गंगा, गीता, गाय, गायत्री और त्रिदेव–ब्रह्मा–विष्णु–महेश यही भारत की अजस्र और अपराजेय ऊर्जा और विश्वमंगल का बीजमंत्र है। यही सृष्टि की संरचना, पालन–पोषण और प्रलय के मूल हैं। इन्हीं से सृष्टि भी है और संस्कृति भी, इन्हीं से जीवन मिलता चलता है और इन्हीं में विलय होता है। यह विश्व एवं ब्रह्माण्ड की वह भावभूमि है, जहां सब कुछ, सभी का है। जहां सभी सबके हैं। न कोई किसी के लिए अंजाना है और न कोई किसी के लिए पुराया। इनके साथ जुड़ी या इनके साथ एकात्म अथवा इन्हीं में से अद्भूत आद्याशक्ति हमारी माँ भगवती ममता, करुणा, स्नेह, प्यार, दुलार की देवी है तो दुष्ट दलन करने वाली महाकाली मी। इन्हीं के 'पुत्र प्रतिनिधि' बनकर श्रीराम और वासुदेव कृष्ण, बर्द्धमान महावीर, गौतम बुद्ध, चाणक्य, शंकराचार्य और नानकदेव आए थे कि भारत, भारत बना रह सके।

जब–जब भारत अपनी जीवनधारा में और संस्कृति की भावभूमि पर उतरने लगता है। सभ्यता का यह सकट उसके सामने ताल ठोक कर खड़ा हो जाता है कि 'संयम, संतोष, कुल परम्परा, पारिवारिकता, सदाचार, सामाजिकता, परम्पराबोध और लोकलाज बीते दिनों की बातें हैं। यदि सभ्य बनना, सभ्य होना और सभ्य कहलाना है तो निर्बंध बनना होना होगा।" "भारत "को इंडिया" ने इस कदर अपने कब्जे में कर रखा है कि नैतिकता–अनैतिकता, पाप–पुण्य, परिवार पड़ोसी और समाज सम्बन्धों का समीकरण एकदम उलटता जा रहा है। गत कुछ दिनों से, यही लगभग एक दशक से 'इंडिया' बहुत ही

बेचैन है कि भारत उसकी 'सभ्यता की बाड़' तोड़कर कहीं अपनी संस्कृति के मंदिर में प्रविष्ट तो नहीं हो जाएगा? क्योंकि यदि ऐसा हो गया तो पश्चिमी सभ्यता का पाखण्ड खण्ड–खण्ड बिखर जाएगा। जैसे. पहले बाल–बच्चों के नाम पर या उनके कारण जो गलत काम और पाप करने से घबराते, डरते थे, आज उन्हीं बाल–बच्चों के नाम पर वही गलत काम धड़ल्ले से करते हमें कोई लाज–संकोच या घबराहट नहीं होती। यह है भारत और हम भारत के लोगों पर यूरोप और अमरीका के 'इण्डिया' के आक्रमण का नतीजा।

संस्कृति पर राष्ट्रीय चिंता वैसे बहुत पहले अभिव्यक्त हुई थी, १९९२ में तो पहली बार वह सरकारी दस्तावेजी बनी ज्यादा दूर नहीं, १९८६ में राष्ट्रीय शिक्षा नीति में कहा गया कि " विसंस्कृतिकरण, विमानवीकरण और विलगाव को हर कीमत पर बरजना चाहिए और शिक्षा को देश की सांस्कृतिक परंपराओं और परिवर्तनधर्मी टेक्नोलॉजी के बीच का सूक्ष्म समन्वय लाना चाहिए।"

बात अच्छी कही गई लेकिन 'शाब्दिक साक्षरता' के साथ सांस्कृतिक साक्षरता पर वांछित ध्यान नहीं दिया जा सका। वास्तव में यह काम सरकार का है नहीं और राजनीतिक पार्टी की सरकार बिना भेदभाव के कर भी नहीं सकती है। मिली–जुली संस्कृति के तत्वों को मिले–जुले लोग ही मिलकर बढ़ावा दे सकते हैं, प्रचार कर सकते हैं और सांस्कृतिक पहचान की पुष्टि कर सकते हैं। राज्य या सरकार संस्कृति के सम्यक विकास में सहायक हो सकती है, उसका कर्णधार नहीं। तभी तो बान्तवे की संस्कृति नीति में कहा गया " यथासंभव राज्य को संस्कृति के विकास की प्रगति में सिर्फ उत्प्रेरक की भूमिका निभानी चाहिए जिसे कि हाथ भर दूर से हस्तक्षेप कहा जाए। "भारत में सांस्कृतिक चेतना सागर की लहरों की तरह आती–जाती, उठती–गिरती रहती है। अति प्राचीन यह संस्कृति वर्तमान समय में जर्जरित एवं स्खलायमान सी हो रही है। भारत ने किसी भी समूचे समाज को एक ही रीति–रिवाज अथवा धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं किया, बल्कि एक ही समाज में विभिन्न सम्प्रदायों, जातियों और संस्कृतियों के स्वतंत्र अस्तित्व और विकास के अधिकार को स्वीकार किया है और उन्हें एक–दूसरे के निकट आने के अवसर दिये हैं।

इसलिए इस विशाल उपमहाद्वीप में कभी भी किसी राज्य के एकधर्मी होने का आग्रह नहीं रहा। आज स्थिति भिन्न है। विज्ञान और टेक्नोलॉजी के विकास ने सारे विश्व को बहुत छोटा कर दिया है–उत्पादन को उपभोक्ता तक पहुंचाने के लिए। अंतरराष्ट्रीय आर्थिक स्थितियों का, उत्पादन और व्यापार में तीव्र विकास का तकाजा है कि भौगोलिक बंधन शिथिल हों। ऐसे में, राष्ट्रवाद की अवधारणा ही संकट में है, छोटे राष्ट्र–राज्यों का रहे बहुजातीय राज्यों का समर्थन कर रहा है, बहुसांस्कृतिक महत्व कम होता जा रहा है, इतिहास राजनीतिक इकाइयां अनिवार्य होती जा रही है, यूरोप फिर एक राजनीतिक स्वरूप बनाने की दिशा में बढ़ रहा है। यही कारण है कि जब भी संस्कृति की बात होती है तो हम लोग ज्यादा भावुक हो जाते हैं। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के दिन लद चुके हैं और आज वह बिल्कुल अप्रासंगिक हो गया है। सतरंगी सांस्कृतिक संपदा के धनी भारत पर किसी एक संस्कृति अथवा धर्म का वर्चस्व लादने का प्रयास देश को केवल विघटन की दिशा में ही ले जा सकता है। केवल चुनाव जीतने के लिए ऐसे भावुक नारों द्वारा देश की सांस्कृतिक परम्परा को तार–तार करने के प्रयास सफल तो नहीं होंगे, हां, इसके विकास में अवांछनीय बाधाएं अवश्य पैदा कर सकते हैं। काश! संघ परिवार समय की पुकार सुनने में सक्षम होता और भारतीय जनसमाज के पुरातन व्यावहारिक ज्ञान को समझ पाता जिसने अनेकता को एकता में पिरोने की शक्ति, सामर्थ्य और बुद्धि दी! उपभोक्ता समाज इनके मूल्य नहीं आंक आता। वह अतृप्त रहने की संस्कृति विकसित करता है। ' कम से कम ' श्रम में अधिक से अधिक भोगने की संस्कृति ही इसे पशु बनाती है इससे भी अधिक वह मूल रूप से कृत्रिम आवश्यकताओं का पैदा करती है और कृत्रिम आपूर्तियां ही अतृप्ति की संस्कृति है।

आज भारतीय जीवन पद्धति में इसका जितना प्रवेश हो चुका उतने से ही हम अपनी मूल संस्कृति से च्युत होने के साथ स्वयं भी कायिक और मानसिक असन्तुलन के शिकार हो रहे हैं। कर्म और चिन्तन में जो पारस्परिक आदान–प्रदान है वह समाप्त हो रहा है। हमारे लिए उत्पादन कोई दूसरा करता है। चिन्तन कोई दूसरा करता है। हम केवल उनके परिणामों के भोक्ता मात्र हैं। इसलिए हमसे और कर्म हमारी मूल सांस्कृतिक संदर्भों से नहीं जुड़ेंगे तब तक हमारा जीवन स्वस्थ नहीं होगा। स्वावलंबन और चिन्तन दोनों नहीं हो पा रहा है। जब तक यह विषमता रहेगी और हमारे चिन्तन जो बढ़ती हुई आबादी और पर्यावरण की चिन्ता, प्रदूषण को रोकने के लिए प्रचार–प्रसार भारत वस्तुत: ये सांस्कृतिक संदर्भ ही हमें अपना जीवन जी सकने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। आज हो रहा है वह केवल इसलिए कि हमारी संस्कृति ही प्रदूषित हो रही है जिसके कारण वह या जिसमें प्रकृति और पर्यावरण से उतना ही लेने का संकल्प था जितना की आवश्यकता है।

संस्कृति की पहचान ही इस बात से बनती है कि आप कितना और किस मात्रा में पुराने और नये दोनों को वर्तमान के संदर्भ में प्रासंगिक मानते हैं और कितना नये को स्वीकार करना समसामयिक होते के लिए आवश्यक समझते हैं। जो कौमें महज किताबी होती हैं उनकी संस्कृति कट्टरपंथी होती है। वह समय के साथ नहीं बदलती। जो उदार होती है वह दोनों में विवेक से काम लेती है। यह बात इसलिए लिखी गई है क्योंकि आज संस्कृति को केवल गाना–बजाना, नृत्य तक ही सीमित करने भी कोशिश की जा रही है। लोग यह भूल जाते हैं कि केवल चोला बदलने से मन और दृष्टि से भी बदलाव नहीं आता। संस्कृति की जड़ें भी गहरी होती हैं। भारत में लोकतंत्र है। लोक में सभी संप्रदाय निहित हैं और लोकतंत्र वही है जो बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय हो। इसलिए 'सेक्युलर' का अर्थ धर्म निरपेक्ष नहीं, सम्प्रदाय–निरपेक्ष मानना चाहिए। धर्म तो भारत की आत्मा है, नैतिक मूल्य ही धर्म है, सदाचरण ही धर्म है, जीवदया, परोपकार अहिंसा, सत्य ही धर्म है। इनको छोड़ दिया तो मर्यादा, धर्म–विहीन राष्ट्र उच्छृंखल हो जाएगा इसलिए शासन सम्प्रदाय–निरपेक्ष बने, धर्मनिरपेक्ष नहीं इसी में कल्याण है और यही हमारी सांस्कृतिक विरासत है। यह बनी रहेगी तो देश की अखंडता सुरक्षित रहेगी।

उपसंहार :

सांस्कृतिक स्तर पर हमारी स्थिति धोबी के कुत्ते से भिन्न नहीं, न घर के रह गए हैं और न घाट के। न प्राचीन संस्कृति बची है न आधुनिकता पूरी तरह आई है। आज हम न पूरब के हैं न पश्चिम के एक अजीबो–गरीब संस्कृति के मोहपाश में कैद होते जा रहे हैं। गर्व से कहो हम भारतीय हैं, दोहराने में भी झिझक होने लगी है।

संदर्भ

1. भारतीय लोकतंत्र का इतिहास, –भ्रम एवं वास्तव, डायमंड पब्लिकेषन पुणे.२०२०
2. भारतवर्श का इतिहास भाग –१, पंडित भगवत दत्त, इतिहास प्रकाषन मंडळ
3. कौटिल्य अर्थषास्त्र,
4. हिंदी निबंध, युनिक प्रकाषन, नई दिल्ली.
5. इंटरनेट